लेबल: साहित्यकार पर विचार

जलकर जो रौशन करे जिंदगी को, जहान को

(संदर्भः प्रेमचंद की 125 वीं जयंती)

'साहित्य में और जीवन में बहुत बड़ा अंतर भी है। साहित्य में भावनाएँ प्रमुख होती हैं, यदि साहित्य जीवन के यथार्थ से हमारा साक्षात भी कराता है तो मुख्यत: भावनाओं के माध्यम से। पर जीवन का व्यवहार मात्र भावनाओं के आधार पर नहीं चलता वहाँ अपना हित, स्वार्थ, व्यवहारकुशलता, निर्मम होड़ की भावना आदि सब काम आते हैं।'[1]

- भीष्म साहनी

यह प्रेमचंद की 125 वीं जयंती का वर्ष है। जाहिर है, इस अवसर को ध्यान में रखकर प्रेमचंद साहित्य पर विभिन्न कोणों से विचार भी हो रहे हैं। प्रेमचंद को मात्र 55-56 वर्ष की आयु मिली थी। 1936 में प्रेमचंद के रूप में प्राप्त एक रत्न को हमने खो दिया। अर्थात, प्रेमचंद को गुजरे हुए भी 68-69 साल हो गये हैं। इस बीच दुनिया बहुत ही तेजी से बदली है। प्रेमचंद के समय में आधुनिक एवं नये भारतीय राष्ट्र और समाज की नींव ही रखी जा रही थी। आजादी का राजनीतिक संघर्ष अपनी तेजी पर था। इसके साथ ही नये समाज के गढ़न का संघर्ष भी किसी भी तरह से मंद नहीं था। सामाजिक संदर्भों का सचेत रूप से साहित्य में यथोचित समावेश करने की सोचना भी तब तक हिंदी साहित्य के लिए दूर की कौड़ी लाना था। साहित्य में मुख्य रूप से या तो 'कामकला विलास' की चर्चा थी या फिर 'हरिस्मरण' की ही परंपरा थी। साहित्य की मुख्य धारा इन्हीं दो कछारों के बीच से बहती थी। कहीं-कहीं तो इन दोनों को एक ही साथ साध लेने की भी भरपूर गुंजाइश थी। जहाँ तक कहानी लेखन की बात है तो खुद प्रेमचंद ने माना है कि उनके सामने बांग्ला कहानियों का एक मॉडल जैसा कुछ था, मगर हिंदी कहानी का क्षेत्र अभी खुला नहीं था। साहित्य के नाम पर जो लिखा जा रहा था उसमें रहस्य-रोमांच, रस-अपरस सब था। नहीं था तो समाज और जीवन का दर्द। दशा-दुर्दशा से परे वह हिंदी साहित्य की ऐसी स्थिति थी जहाँ सचेत सामाजिक दायबद्धता की दृष्टि से सिर्फ सिफर ही था। साहित्य को सचेत एवं सतत रूप से सामाजिक संदर्भों और आम आदमी के सरोकारों से जोड़कर देखने की जरूरत पहली बार प्रेमचंद ने महसूस की। उन्होंने संवेदना के आधार पर साहित्य को सामाजिक

संदर्भों के साथ-साथ, राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता के संदर्भों से भी जोड़कर आम आदमी के सरोकारों को गहराई से समझने की जरूरत महसूस की। प्रेमचंद को यह समझते देर नहीं लगी कि 'समाज का संगठन आदिकाल से आर्थिक भीत्ति पर होता आ रहा है। जब मनुष्य गुफाओं में रहता था, उस समय भी उसे जीविका के लिए छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनानी पड़ती थीं। उनमें आपस में लड़ाइयाँ भी होती रहती थीं। तब से आज तक आर्थिक नीति ही संसार का संचालन करती चली आ रही है, और इस प्रश्न से आँखें बंद करके समाज का कोई दूसरा संगठन चल नहीं सकता।'[2] इसलिए प्रेमचंद का पूरा साहित्य न सिर्फ आर्थिक भीत्ति के महत्त्व को महसूस करता है, बल्कि आधुनिक और नये भारतीय राष्ट्र के गठन की नींव में आर्थिक भीत्ति के महत्त्व के प्रति अपने विश्वास का साहित्य में विनियोग भी करता है। इसलिए प्रेमचंद का साहित्य संसार के संचालन में आर्थिक नीति की भूमिका के प्रति हिंदी समाज की आँख खोलने का साहित्य है। प्रेमचंद के समय में ही आधुनिक और नये भारतीय राष्ट्र के गठन की नींव में धर्म और आध्यात्म को डालने की भी पूरजोर काशिश हो रही थी। यह कोशिश कितनी घातक साबित हुई यह हम सबके सामने है। याद कर लेना जरूरी ही होगा कि इसी कोशिश के तहत द्विराष्ट्रीयता का तथाकथित सिद्धांत सामने आया और धर्म के नाम पर देश विभाजन की दर्दनाक घटना हुई। इस विभाजन की टीस आज भी भारतीय राष्ट्र के जीवन में कम नहीं हुई है। प्रेमचंद इस बात से सचेत थे। उनकी समझ बिल्कुल साफ थी कि 'अगर धर्म ही राष्ट्रों को मिला दिया करता तो जर्मनी और फ्रांस और इटली आदि राष्ट्र कब के मिल चुके होते।'[3] राष्ट्र के संदर्भ को प्रेमचंद धर्म से बिल्कुल अलग रखना जरूरी मानते हैं। यह बात धर्मनिरपेक्षता को आधुनिक भारतीय समाज और राष्ट्र का प्राण बनाती है। इस प्रसंग में प्रेमचंद का अनुभव यह भी है कि 'आध्यात्मिक मार्ग की परीक्षा हमने खूब कर ली। कई हजार वर्षों से हम यही परीक्षा करते चले आ रहे हैं। वह श्रेष्ठतम मार्ग था। उसने समाज के लिए ऊँचे से ऊँचे आदर्श की कल्पना की और उसे प्राप्त करने के लिए ऊँचे से ऊँचे सिद्धांत की सृष्टि की थी। उसने मनुष्य की स्वेच्छा पर विश्वास किया, लेकिन फल इसके सिवा कुछ न हुआ कि धर्मोपजीवियों की एक बहुत बड़ी संख्या पृथ्वी का भार हो गयी। समाज जहाँ था वहीं रह गया, नहीं, और पीछे हट गया। संसार में अनेक मतों और धर्मों और करोड़ों धर्मोपदेशकों के रहते हुए भी जितना वैमनस्य और हिंसा भाव है, उतना शायद पहले कभी नहीं था।'[4]

इसके पहले साहित्य में नायकत्व के लिए ऐसे गुणों की वरियताएँ प्रचलित रहीं थीं, जिनके साथ देश की अधिसंख्य जनता का 'साधारणीकरण' या 'तादात्मीकरण' संभव ही नहीं हो सकता था। बहुधा,

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष ढंग से रामायण-महाभारत जैसी महत् परंपराओं से ही साहित्य के प्राण-पखेरू का संबंध बना हुआ था। यह अकारण नहीं था। इसके पीछे बहुत ही गहरी बात थी। जो लोग साहित्य को राजनीति से बिल्कुल ही अलग करके देखने के आग्रही हैं उन्हें प्रो. तुलसी राम की बात पर गौर करनी चाहिए। वे रेखांकित करते हैं कि 'कालिदास एक बौद्ध विरोधी साहित्यकार थे। इसलिए पुष्पमित्र की तारीफ में कालिदस के रघुवंश और संस्कृति (संस्कृत) के उस जमाने के तमाम साहित्यकारों के साहित्य में यह चीज भरी पड़ी है। कालिदास से लेकर भवभूति, भास, क्षेमेंद्र, भारवि आदि तमाम संस्कृति (संस्कृत) के कवियों ने मिथकों के आधार पर नाटक लिखना शुरू किया। खासकर महाभारत और रामायण के चरित्रों को लेकर नाटकों में वैदिक दर्शन की महिमा का मंडन किया गया। इस तरह बिना बौद्ध दर्शन का नाम लिए उसका विरोध किया गया। जिस कालिदास की इतनी तारीफ की जाती है उसने अश्वमेध के बहाने एक हिंसक दर्शन को बढ़ावा दिया।'[5] प्रेमचंद के साहित्य में इन महत् शास्त्रीय परंपराओं से इतर समांतर लोक परंपरा के सहमेल और सातत्य में लघु परंपराओं के अनुरूप चरित विन्यास मिलता है। शंभुनाथ कहते हैं, 'प्रेमचंद की खूबी थी कि उन्होंने समाज के विभिन्न कुचले और बहिष्कृत तबकों को उपनिवेशवाद-विरोधी ढाँचे में जोड़कर देखा था, वर्ण व्यवस्था और संप्रदायवाद दोनों से डटकर संघर्ष किया था और आधुनिकता की राष्ट्रीय परियोजनाओं को पहचाना था। एक तरह से देखा जाए तो उनका साहित्य 'महान परंपराओं' और 'लघु परंपराओं' के बीच संवाद है। उनके साहित्य पर विचार करना और यह देखना कि उसमें दलित प्रश्न किस तरह उठाया गया है, खुद दलित विमर्श को उत्प्रेरित करनेवाला अध्ययन होगा। यह गाँधी और आंबेडकर की विपरीत लगनेवाली परियोजनाओं के जटिल रिश्ते को समझने की भी एक कोशिश होगी।'[6] यह चिंता की बात है कि आज जीवन में 'विरुद्धों के सामंजस्य' से अधिक 'विरुद्धों के बहिष्करण' के प्रति आग्रह बढ़ रहा है। 'विरुद्धों के बहिष्करण' के प्रति बढ़ते इस आग्रह का नतीजा है कि आज 'गाँधी और आंबेडकर' की नहीं 'गाँधी या आंबेडकर' की बात की जाती है। इस तरह की बात करनेवाले लोगों को गाँधी और अंबेडकर की परियोजनाएँ एक दूसरे के सर्वथा विपरीत लगती हैं। जो लोग 'गाँधी या आंबेडकर' की बात करते हैं, उनकी समझ में प्रेमचंद का महत्त्व नहीं आयेगा। क्योंकि प्रेमचंद 'विरुद्धों के बहिष्करण' के नहीं 'विरुद्धों के सामंजस्य' के प्रति आग्रहशील थे। 'गाँधी और आंबेडकर' के संदर्भ से सामाजिक गतिशीलता की नई हलचलों को सही परिप्रेक्ष्य में देखनेवाले ही प्रेमचंद के महत्त्व को ठीक से समझ सकते हैं। हिंदी समाज की अंदरुनी गतिविधि के चर्यापथ को आविष्कृत करने के उत्साही लोगों को प्रेमचंद साहित्य का संदेश निश्चित ही प्रभावित और प्रेरित भी करता है। यह बहुत ही

अचरज की बात है कि प्रेमचंद साहित्य का समग्र किसान जीवन से जुड़ा हुआ है। जब हमारा हिंदी साहित्य संस्कृति के बड़े-बड़े सावलों को हल करने के वैश्विक अभियान में लगा हुआ था, प्रेमचंद जोतदार किसानों के साथ पूरी ताकत के साथ खड़े थे। वे संस्कृति के प्रवाह को किसान जीवन की ऊर्बर किंतु कँटीली जमीन पर से प्रवाहित करने का साहसपूर्ण भगीरथ प्रयास कर रहे थे। यह साहस अचरज में डालनेवाला है। यह अचरज तब और बढ़ जाता है जब हम यह देखते हैं कि प्रेमचंद के पहले ही नहीं प्रेमचंद के बाद भी कोई ऐसा रचनाकार नहीं हुआ जो अपनी रचनात्मकता में इतनी समग्रता से और इतनी एकाग्रता से जोतदार किसान जीवन के आस-पास ही बने रहने का साहस दिखा सका हो! प्रेमचंद ने जीवन के सारे प्रसंगों पर किसान की नजर और नजरिये से देखा और लिखा। कहना न होगा कि प्रेमचंद के किसान कोई काल्पनिक जीव नहीं है। वह वास्तविक इंसान है। उनमें 'अच्छाइयाँ' भी हैं, थोड़ी-सी 'बुराइयाँ' भी हैं। उनमें 'भोलापन' है तो छोटी-छोटी 'चालाकियाँ' भी हैं।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था का मूल आधार कृषि कर्म रहा है। किसानी के काम से समाज के विभिन्न स्तर, वर्ग, वर्ण और समूह के लोग जुड़े रहे हैं। गौर करने लायक बात यह है कि जिन किसानों की बात प्रेमचंद साहित्य में प्रमुख है वे किस प्रकार के किसान हैं? प्रेमचंद के किसान जमींदार नहीं जोतदार हैं। जमींदार और जोतदार में प्रेमचंद उनके श्रम के सरोकार से फर्क करते हैं। यह बड़ी बात है। 'सभी को अपनी आजीविका के लिए कुछ न कुछ परिश्रम करना पड़ता है। यहाँ तक की साहूकार को भी बहुधा नादिहंद कर्जदारों से पाला पड़ जाता है और उसकी रकमें डूब जाती हैं। लेकिन जमींदार से कोई पूछे, तुम जनता का क्या उपकार करते हो? तुम्हारी जात से समाज का क्या भला होता है? तुममें से जो संपन्न हैं वे मजे से लखनऊ या इलाहाबाद में बँगलों में ऐश करते हैं और जो इतने भग्यवान नहीं हैं, वे देहातों में ही मूसलचंद बने घूमते हैं, जैसे गीदड़ मुर्दे जानवरों की खोज में रात को निकलते हैं।'[7] किसानों की सहायता के लिए जो भी कदम उठाये जाते हैं उनका लाभ किसानों को मिल ही नहीं पाता है। आज भी इस तरह की घटना के प्रमाण मिल जाते हैं। आजादी के इतने दिनों के बाद, सबके जीवन के प्राण का आधार अन्न उपजानेवाले किसान आत्महत्या कर रहे हैं। यह कोरी भावुकता की नहीं गंभीर विचार का विषय है। प्रेमचंद ठीक ही लक्षित करते हैं कि किसानों के कर्ज लेने और जमींदारों के कर्ज लेने में अंतर है। वे कहते हैं, 'वह बिल (किसान सहायक एक्ट) बना था किसानों की रक्षा के लिए। मगर हुआ यह कि किसान तो पीछे रह गये, बड़े-बड़े जमींदारों और तालुकेदारों के हित को ही प्रधानता दे दी गयी। बेचारा किसान जहाँ का तहाँ रह गया। किसान ने कर्ज लिया है बैलों के लिए या

बीज के लिए या खाने के लिए। उसको यदि सरकार ऋण से मुक्त करा दे, तो वह कृषक समाज का उद्धार करेगी। जमींदारों ने कर्ज लिया है ऐयाशी के लिए, शराबखोरी के लिए, बड़े-बड़े महल बनवाने के लिए।'[8] क्या अचरज की बात है कि जिस बात पर प्रेमचंद आजादी के पहले चिंता व्यक्त कर रहे थे उन से हम आज भी निजात नहीं पा सके हैं! 'कृषकों और साहूकारों की सख्तियों से बचाने के लिए जो व्यवस्था की जा रही है उससे पूरा फायदा उठाने के लिए यह लोग अपने को कृषकों में शामिल किये देते हैं। किसानों को संरक्षण की इसलिए जरूरत है कि वे दीन हैं, अशक्त हैं, एक ओर जमींदारों के शिकार हो रहे हैं, दूसरी ओर साहूकारों के। उन्हें न रोटी मयस्सर है, न कपड़ा; न बीज मयस्सर है, न बैल। इसके विरुद्ध हमारे जमींदार साहबान प्रांत में सबसे सामर्थ्यवान, सबसे प्रतिभाशाली वर्ग के हैं। उनमें से कितने ही ऐश की जिंदगी बसर करते हैं और जो गये-बीते हैं, वे भी डंडे के जोर से किसानों से खेती करा लेते हैं, तरह-तरह के बेगार और तावान वसूल करते हैं और मजे से अफीम खाते या भंग उड़ाते हैं।'[9]

यह भी देखने की जरूरत है कि प्रेमचंद साहित्य में स्वभावत: निशाने पर वे लोग और वे प्रवृत्तियाँ हैं जिनका संबंध किसानों की दुर्दशा से रहा है। यह तो पानी की तरह साफ है कि किसानों की दुर्दशा का गहन संबंध भाग्यवाद, जातिभेद, सांप्रदायिकता, सामंतवाद, जमीन पर हक के अनुत्तरित सवाल, ब्रिटिश हुकूमत, आत्मनिर्णय के अन-अधिकार, वैधानिक के साथ ही सामजिक और सांस्कृतिक न्याय की दुर्लभता और इन सब के पीछे मूलकारक के रूप में सक्रिय ब्राह्मणवाद से रहा है। प्रेमचंद ने इन सवालों को समाज के जीवंत सवाल से जोड़कर देखा और साहित्य में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं वैधानिक न्याय के महत्त्व को बड़ी ही गंभीरता से स्थापित किया। प्रेमचंद के किसान का अर्थ 'राय साहब' से नहीं, 'होरी'[10] से निकलता है। यही बात प्रेमचंद को प्रामाणिक बनाती है। प्रामाणिकता के संदर्भ में भीष्म साहनी कहते हैं, 'कहानी का सबसे बड़ा गुण, मेरी नजर में, उसकी प्रामाणिकता ही है, उसके अंदर छिपी सच्चाई जो हमें जिंदगी के किसी पहलू की सही पहचान कराती है और यह प्रामाणिकता उसमें तभी आती है जब वह जीवन के अंतर्द्वंद्व से जुड़ती है। तभी वह जीवन के यथार्थ को पकड़ पाती है। कहानी का रूप सौष्ठव, उसकी संरचना, उसके सभी शैलीगत गुण, इस एक गुण के बिना निरर्थक हो जाते हैं। कहानी जिंदगी पर सही बैठे, यही सबसे बड़ी माँग हम कहानी से करते हैं। इसी कारण हम किसी प्रकार के बनावटीपन को स्वीकार नहीं करते– भले ही वह शब्दाडंबर के रूप में सामने आए अथवा ऐसे निष्कर्षों के रूप में जो लेखक की मान्यताओं का तो संकेत करते हैं, पर जो

कहानी में खप कर उसका स्वाभाविक अंग बन कर सामने नहीं आते। प्रामाणिकता कहानी का मूल गुण है। कहानी में यह गुण मौजूद है तो कहानी कला के अन्य गुण उसे अधिक प्रभावशाली और कलात्मक बना पाएंगे। प्रामाणिकता कहानी की पहली शर्त्त है।'[11] प्रेमचंद साहित्य की खासियत यह कि उसमें अपने समय के सामाजिक जीवन में उपस्थित क्रूर विभाजकताओं के रहते हुए भी जीवन को देखने का दृष्टिकोण यांत्रिक ढंग से विकास नहीं पाता है। क्रूर विभाजकताओं की जीवंतता को रचनात्मक स्तर पर पूरी गंभीरता एवं जटिलता के साथ समझने और उसे रचना में उतारने की कोशिश है। इस कोशिश में प्रेमचंद साहित्य में अद्‌भुत संतुलन देखने को मिलता है। प्रेमचंद साहित्य का यह अद्‌भुत आत्म संतुलन ही उसे ऐसी प्रामाणिकता और प्रासंगिकता प्रदान करता है। कहना न होगा कि प्रेमचंद के साहित्य में मनुष्य के विवेक पर न सिर्फ जोर है बल्कि सामाजिक परिवर्तन में उसकी गंभीर भूमिका के बरताव के प्रति भी यथोचित सम्मान है।

मोटे तौर पर उच्च वर्ण और वर्ग के लोग जमींदार थे, जोतदार नहीं। दूसरी ओर समाज के दबे-कुचले, शोषित एवं दलित लोग जोतदार थे, जमींदार नहीं। अब अगर प्रेमचंद के किसान मूल रूप से जोतदार हैं तो, अलग से यह कहने की कोई जरूरत नहीं रह जाती है कि प्रेमचंद की मूल संवेदना का संदेश क्या है। जिन रचनाओं में प्रत्यक्षत: ऐसा नहीं दिखता है उन रचनाओं में भी जोतदार किसान जीवन की डोलती हुई कोई भीतरी छाया खोजी जा सकती है। यह कम बड़ी बात नहीं है कि 'प्रेमचंद ने अपने साहित्य में उन्हीं चरित्रों को रखा जो अब तक दृश्य में नहीं थे, उन्हीं को वाणी दी जो बहिष्कृत थे। उन्होंने साहित्य में वर्चस्व को चुनौती दी एवं जनतंत्र को आगे बढ़ाया। यह सही है कि उन्होंने दलित को संपूर्ण विश्व और नागरिक समाज की समस्याओं के बीच रखकर देखा, उसे ही केंद्र नहीं बनाया, क्योंकि दलितों की मुक्ति के लिए सिर्फ वर्ण व्यवस्था से ही नहीं, सामंती व्यवस्था से हर स्तर पर लड़ना जरूरी था।'[12] इस सामंती व्यवस्था के मूल में जमीन पर मालिकाना हक का सवाल रहा है। आजाद भारत में भी पश्चिम बंगाल के अलावे शायद ही कहीं जमीन पर जोतदार के मालिकाना हक के सवाल को हल करने की कोई सार्थक कोशिश की जा सकी है। इस मसले पर प्रेमचंद बहुत ही पीड़ा के साथ दर्ज करते हैं कि 'दिल्लगी यह है, कि आज भी जमींदार साहबान अपने को जमीन का मालिक समझते हैं। अँग्रेजी सरकार के पहले उनकी हैसियत दलालों की थी, जो बादशाह की ओर से लगान वसूल करने के लिए रखे जाते थे और लगान न अदा कर सकने पर निकाल बाहर किये जाते थे और बड़ी जिल्लत के साथ। अँग्रजी राज्य में उनका मान बढ़ गया। सरकार को देश में ऐसे एक जत्थे की

जरूरत थी, जो प्रजा पर उनकी हुकूमत जमाने में सहायक हो। उसने यह काम इन्हीं लगान वसूल करनेवालों से लिया। तब से यह लोग अपने को जमीन का मालिक समझने लगे।'[13] कारण साफ है कि जोतदार किसानों के प्रति असंवेदनशील लोग प्रेमचंद साहित्य के प्रति क्यों असहिष्णु होते हैं!

भारतीय जीवन के बहुत बड़े भाग पर इतनी समग्रता और जटिलताओं के अविकल विनियोग के कारण प्रेमचंद साहित्य आज विमर्श में केंद्रीय स्थान पर है। इससे उनके साहित्य का महत्त्व रेखांकित होता है। किसी भी महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृति की यह विशेषता होती है कि समय की गतिशीलता की सापेक्षता में उसकी पाठ-प्रक्रिया भी सतत गतिशील बनी रहती है। पाठ-प्रक्रिया की यह गतिशीलता समय के साथ रचनात्मक संवाद से बनती है। जाहिर है कि रचने में जितना समय लगता है, पाठ-प्रक्रिया के पूरी होने में उस से कहीं ज्यादा समय लग जाता है। भीष्म साहनी रचना-प्रक्रिया का संकेत करते हुए कहते हैं, 'अपने किसी अनुभव को लेकर अथवा किसी घटना से प्रेरणा लेकर जब लेखक कहानी लिखने बैठता है तो वह एक तरह से वास्तविकता को गल्प में बदलने के लिए बैठता है।'[14] यह सच है कि रचनाकार वास्तविकता को एक तरह के गल्प में बदलता है, लेकिन यह भी सच है कि पाठक उस गल्प को फिर से एक तरह की वास्तविकता में बदलकर अर्थ-ग्रहण करता है। कहना न होगा कि वास्तविकता बदलती रहती है और इसके साथ ही गल्प भी बदलता रहता है; गल्प बदलता रहता है उसके साथ ही साहित्य की वास्तविकता भी सामजिक वास्तविकता के संदर्भ में बदलती रहती है। दिक्कत तब आती है जब लोग जाने-अनजाने किसी पाठ तक उलटे रास्ते पहुँचने की कोशिश करने लगते हैं। कभी-कभी प्रेमचंद का साहित्य भी इस प्रवृत्ति की चपेट में आ जाता है। इनमें उनके विरोधी एवं प्रशंसक दोनों ही तरह के लोग हैं। हम अतियों पर अधिक जीते हैं, खासकर विचार को। महात्मा बुद्ध ने हमारे इसी चरित्र के कारण मज्झम-निकाय को आवश्यक बताया था। लेकिन, ऐसा लगता है कि अतियों पर जमे रहना हमारी बनावट में ही निहित है। हम अक्सर एक अतिवाद से निकलकर दूसरे अतिवाद के शिकार हो ही जाते हैं। यह हमारा सांस्कृतिक अति-सार है।

कुछ लोग प्रेमचंद को देवता बना देने की कोशिश में हैं, तो कुछ लोग उन्हें बिल्कुल ही राक्षस मानने और मनवाने की कोशिश में लगे हैं। यह विरोधी-सी प्रतीत होनेवाली प्रवृत्ति असल में एक ही है। प्रेमचंद के प्रति अपनाया जानेवाला यह तरीका भ्रामक और घातक है। वस्तुत: 'देववाद' की शास्त्रीय परंपरा अपने प्रतिलोम के रूप में 'राक्षसवाद' को गढ़ता है। इसमें मनुष्य के लिए कोई जगह नहीं होती

है। सीधा हिसाब यह कि जो 'हम' के समूह में होता है वह देव, जो 'अन्य' के समूह में है वह राक्षस! कहना न होगा कि प्रेमचंद का रचनात्मक और सांस्कृतिक संघर्ष इस 'देववाद' के खिलाफ था। 'देववाद' के खिलाफ सांस्कृतिक संघर्ष की एक समांतर मानवीय परंपरा भारतीय संस्कृति में मिलती है। यह समांतर परंपरा कहीं क्षीण होती है, कहीं कमजोर होती है, किंतु कहीं भी एकदम से टूट नहीं जाती है। प्रेमचंद ने इस समांतर परंपरा को परखा और काम का पाया। देखा जा सकता है कि प्रेमचंद साहित्य में ही नहीं, संपूर्ण भक्ति काव्य में भी इस 'देववाद' के खिलाफ जीवंत सांसकृतिक संघर्ष रहा है। इसी सांस्कृतिक संघर्ष का असर है कि भक्ति काव्य में बहुवंदित देवता भी दैवीय गुणों के कारण नहीं, बल्कि मानवीय गुणों के कारण ही स्वीकार्य होते हैं। सबसे ऊपर 'मनुष्य के सत्य' की स्थापना इस सांस्कृतिक संघर्ष की परम उपलब्धि है। इस समांतर परंपरा के संघर्ष का एक प्रमाण भक्त कवियों के द्वारा 'देव-भाषा' के सांस्कृतिक वर्चस्व को सामाजिक चुनौती देने और 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' की घोषणा के रूप में भी सहज ही मिल जाता है। हालाँकि, विद्यापति कबीर की तरह संस्कृत को बिल्कुल साफ-साफ 'कूप जल' नहीं कह सके थे। फिर भी 'देसिल बयना' का प्रसंग उठाकर विद्यापति ने अपने समय के अतिमहत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सवाल को स्वर तो दे ही दिया था। कुछ 'संस्कृति पुरुष' यह कहते हुए पाये जाते हैं कि अधिकतर भक्त कवियों, खासकर निर्गुनिये भक्त कवियों को संस्कृत का ज्ञान नहीं था। ऐसा कहते हुए वे इस बात को दबा जाते हैं कि 'देसिल बयना' का प्रसंग उठानेवाले विद्यापति को न सिर्फ संस्कृत का गहन ज्ञान था बल्कि उन्होंने 'पुरुष परीक्षा' और 'भू-परिक्रमा' जैसे कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना भी संस्कृत में की थी। तुलसीदास ने रामचरित मानस के प्रारंभ में संस्कृत का प्रयोग जिस प्रांजल पांडित्य के साथ किया है, उसे देखते हुए उनके संस्कृत ज्ञान पर संदेह का साहस कौन कर सकता है! सबसे बड़ी बात तो यह कि संस्कृत और अन्य भाषा का द्वंद्वात्मक संबंध असल में संस्कृति की समझ के द्वंद्व को भी सूचित करता है। भक्ति काल के बहुत पहले खुद महात्मा बुद्ध ने ही 'देवभाषा' संस्कृत से अपना पल्ला झाड़ लिया था। उन्होंने संस्कृत का आश्रय न लेकर, पालि को अपने संप्रेषण के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित किया। महावीर और उनके अनुयायियों ने भी संस्कृत को छोड़ प्राकृत को अपना लिया था। लेकिन भक्ति काल में आकर 'देवभाषा' के रूप में महिमामंडित संस्कृत के अस्वीकार को धार्मिक के साथ-साथ एक व्यापक धरातल पर सामाजिक मान्यता भी मिल गई। संस्कृत में ही लिखते रह जानेवाले, धीरे-धीरे अमान्य होते गये और अंतत: बिल्कुल निष्प्रभ हो गये! यहाँ बहुत ही सावधानी से 'देव-भाषा' को अस्वीकार किये जाने के पीछे 'देववाद' को अस्वीकार करने की सामाजिक आकांक्षा को भी अधिक स्पष्टता के साथ पढ़ा जा सकता है। समय के साथ-साथ ऐतिहासिक रूप से यह

बात पुष्ट होती गई है कि 'ब्राह्मणवाद' से समर्थित 'देववाद' बहुत आसानी से हमारा पीछा छोड़नेवाला नहीं है। जिस-जिस ने इस 'देववाद' को चुनौती दी, वे सभी 'ब्राह्मणवाद' के शिकार हुए। और तो और, जिन तुलसीदास के साहित्य को सामने रखकर कुछ लोग देश में अगलग्गी के खेल में लगे हुए हैं, उन तुलसीदास को भी ब्राह्मणवाद के साँप ने कम नहीं डँसा है। इतिहास गवाह है कि ब्राह्मणवादियों के शिकार तो तुलसीदास भी खूब हुए थे! कहने की जरूरत नहीं कि जो लोग आज देश भर में तुलसीदास के राम का सहारा लेकर तूफान मचाए हुए हैं, नैसर्गिक रूप से उनके वैचारिक पूर्वज तुलसी को 'वन की घास' ही समझते थे। यह बात तो उन्हें अब जाकर समझ में आई है कि तुलसीदास जी ने जो पथ सुझाया था उसके पीछे इतिहास की उनकी जबर्दस्त समझ थी; और इस समझ को समय रहते स्वीकार लेने में उनकी ही भलाई थी। संस्कृत और अन्य भाषा के संबंध की द्वंद्वात्मकता भक्ति काल तक ही सीमित नहीं थी। यह द्वंद्व अदृश्य रूप में आज भी जारी है। प्रेमचंद के समय में तो यह द्वंद्व बहुत ही जटिल था। भाषा 'रेख्ता', 'हिंदवी', 'हिंदुस्तानी', 'खड़ी बोली', के नाना अभिधानों से गुजरते हुए 'हिंदी' के रूप में स्वीकृत हुई। इस हिंदी में प्रयुक्त शब्दावलियों के स्रोत के रूप में 'भाखा' के सहज प्रचलित शब्दों के बदले सुनियोजित रूप से संस्कृत शब्दों को प्राथमिकता दिये जाने के आग्रह पर आकर केंद्रित हो जाने के पीछे सक्रिय सांस्कृतिक द्वंद्व के आशय को समझना जरूरी है। इस आशय को ध्यान में रखें तो बात तुरंत ही समझ में आ जाती है कि क्यों एक खास विचारधारा को माननवाले लोग 'जिंदाबाद' की जगह 'अमर रहे' का नारा बुलंद करते हैं! प्रेमचंद ने हिंदी के जिस रूप का रचनात्मक व्यवहार किया वह संस्कृति की समांतर परंपरा से उनकी भाषा दृष्टि के विकसित होने की भी गवाह है। हिंदी को 'देसिल बयना' बनानेवाली भाषा दृष्टि का रचनात्मक अपनाव प्रेमचंद की सामाजिक दृष्टि का स्वयं पुष्ट प्रमाण है।

तात्पर्य यह कि 'देववाद' के प्रति हमारा सुदीर्घ सांस्कृतिक संघर्ष रहा है। इस सांस्कृतिक संघर्ष का एक पक्ष सत्ता संघर्ष से भी जुड़ा है। प्रेमचंद ने इस 'देववाद' का विरोध किया था। स्वाभाविक है कि प्रेमचंद शुरु से ही ब्राह्मणवाद के शिकार बनते रहे हैं। इस गुत्थी को समझना दिलचस्प हो सकता है कि क्यों प्रेमचंद न तो ब्राह्मणवादियों को स्वीकार्य होते हैं और न ही ब्राह्मणवाद के तथाकथित विरोधियों को ही स्वीकार्य हो पाते हैं। जरा ठहरकर गहराई से विचार करने पर यह बात समझते देर नहीं लगती है कि भारत में हिंदू जीवन व्यवस्था की सबसे बड़ी विडंबना यह रही है कि उसका विरोधी विचार भी उसका अंगीभूत हो जाता है। कई बार दलित-विमर्श का एक छोटा हिस्सा इस बात की तह में जाने की

कोशिश नहीं करता है। नतीजा यह कि उसका ब्राह्मणवाद विरोध अंतत: ब्राह्मणवाद की ही एक और अभिनव अभिव्यक्ति बनकर रह जाता है। स्वभावत: ब्राह्मणवाद की रणनीतिक समझ दलित-विमर्श के इस छोटे हिस्से को उकसाने लगती है। यही कारण है कि प्रेमचंद ने विरोध तो ब्राह्मणवाद का किया लेकिन उन पर चोट सिर्फ 'ब्राह्मणवाद' ही नहीं करता है बल्कि, 'ब्राह्मणवाद का विरोधी विचार' भी करता रहता है! आज की तारीख में जब ब्राह्मणवाद के विरोध के सकारात्मक पक्ष को बचाने की चिंता की जानी चाहिए। यह विडंबना ही है कि कई बार हम में से कुछ लोग ब्राह्मणवाद के विरोध का जो तरीका अपनाते हैं, उससे ब्राह्मणवाद का ही प्रयोजन सिद्ध होने लग जाता है! ब्राह्मणवाद का मूल प्रयोजन क्या है? समाजिक एकता के किसी भी आधार को तहस-नहस कर विभिन्न प्रकार के शोषण के अनुकूल वातावरण बनाना, ब्राह्मणवाद का मूल प्रयोजन है। ब्राह्मणवाद का यही प्रयोजन उसे पूँजीवादी साम्राज्यवाद का प्रिय बनाता है। जाहिर है एक शोषणहीन भारतीय राष्ट्र और समाज के सपने को सच करने के लिए ब्राह्मणवाद और पूँजीवादी सम्राज्यवाद दोनों से एक-एक करके नहीं, एक साथ ही लड़ना आवश्यक होगा। इस बात को प्रेमचंद भी समझते थे और आंबेडकर भी समझते थे। आंबेडकर कहते हैं, 'इस देश के दो दुश्मनों से कामगारों को निपटना होगा। ये दो दुश्मन हैं, ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद...। ब्राह्मणवाद से मेरा आशय स्वतंत्रता, समता और भाईचारा की भावनाओं के निषेध से है। यद्यपि ब्राह्मण इसके जनक हैं, लेकिन यह ब्राह्मणों तक ही सीमित न होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है।'[15] आज के दलित विमर्श में ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद के विरोध को सक्रिय रखना बहुत बड़ी चुनौती है। प्रेमचंद का महत्त्व यह है कि उनका पूरा साहित्य ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद की इस संयुक्त चुनौती के मुकाबले का साहित्य है।

प्रेमचंद की 125 वीं जयंती के अवसर पर अभी प्रगतिशील लेखक संघ, लखनऊ के एक कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए मुद्राराक्षस ने प्रेमचंद को दलित विरोधी, फासिस्ट और न जाने क्या-क्या कहा। इतना ही नहीं मुद्रा राक्षस यह भी कहते हैं कि 'प्रेमचंद की विवेचना करते वक्त हिंदी लेखक इस सचाई से आँखें बंद कर लेता है कि दरअसल प्रेमचंद के रचनाकार, व्यक्ति और विचारक के रूप में अलग-अलग व्यक्तित्व मिलते हैं।'[16] यह सच है कि व्यक्तित्व के कई आयाम होते हैं। व्यक्तित्व के इन सभी आयामों का संबंध अपने देश-काल से भी होता है। देखने की बात यह होती है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के इन आयामों कं अंदर सक्रिय अपने देश-काल के अंतर्विरोधों से कैसा संघर्ष करता है। इसे वही देख सकता है जो अपने भी व्यक्तित्व के अंतर्विरोधों से लड़ सकता है। अन्यथा वह दूसरों के

अंतर्विरोधों के संघर्ष को ठीक से समझ तो सकता नहीं है परंतु टिप्पणी बहुत तेज करता है। अब यह तो ठीक बात है कि मुद्राराक्षस न तो फासिस्ट हैं और न तो दलितवादी ही हैं। सच्ची बात यह है कि वे उस अर्थ में दलितवादी तो हो भी नहीं सकते हैं। उन्हें कौन दलितवादी अपना 'वादी' मानने को तैयार होगा भाई! फिर मुद्राराक्षस इस तरह की मुद्रा क्यों अपनाते रहते हैं, यह सोचने की बात है। यहाँ, इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि किसी भी बड़े रचनाकार के साहित्य के साथ समाज के विभिन्न वर्गों और समुदायों के लोग विभिन्न स्तर पर और विभिन्न स्वर में संवाद करते हैं। इस स्वर में समर्थन और विरोध दोनों का भाव होता है। कई बार विरोध के भाव में तीखापन कुछ अधिक भी हो सकता है। इस तीखेपन का एक बड़ा कारण यह हो सकता है कि समाज के विभिन्न वर्ग या समुदाय उस बड़े रचनाकार से अपना तादात्मीकरण अपने ढंग से करना चाहता है। किसी एक वर्ग या समुदाय के द्वारा स्थापित तादात्मीकरण की शैली को दूसरा वर्ग या समुदाय ठीक उसी रूप में नहीं भी अपना सकता है। क्योंकि कई बार वर्गों या समुदायों को पारस्परिक संघर्ष के रास्ते पर जाने की भी तैयारी करनी होती है। लेकिन यह स्थिति बहुत दिन तक नहीं चल सकती है। अपने-अपने ढंग से ऐसे साहित्य को अपने अनुरूप ढालने की सामाजिक प्रक्रिया इन वर्गों और समुदायों को एक कर देती है। सामाजिक एकीकरण में साहित्य की यही भूमिका होती है। कहने का तात्पर्य यह कि एक बड़े रचनाकार के साथ समाज के विभिन्न वर्ग और समुदाय अपने-अपने ढंग से संवाद करते हैं, संबंध विकसित करते हैं। जाहिर है जिस तरह सबके 'अपने-अपने राम होते हैं' उसी तरह सबके 'अपने-अपने प्रेमचंद' भी हो ही सकते हैं। हमें इस बात को पूरी सामाजिक उदारता और सांस्कृतिक धैर्य के साथ स्वीकारनी होगी। दलित समाज का कुछ हिस्सा अगर प्रेमचंद से अपना संवाद और संबंध अलग तरीके से बनाने की कोशिश कर रहा है, तो उसके इस हक को पूरी सदाशयता से समझना और मानना होगा। कम-से-कम, प्रेमचंद साहित्य के पाठ का निष्कर्ष तो ऐसा ही प्रतीत होता है! प्रेमचंद का साहित्य दलित समाज का विरोध नहीं करता है।

दलित समाज के एक हिस्से के मन में प्रेमचंद के प्रति विरोध का कोई भाव आता है तो प्रेमचंद का साहित्य हमें उनके ऐसे विरोध को समझने का सही नजरिया देता है। हमें इस संदर्भ को प्रेमचंद साहित्य से प्राप्त नजरिये से ही देखना होगा। इस बात को भी समझना होगा कि वे भी प्रेमचंद के उतने ही वारिस हैं। 'हम' से असंतुष्ट होकर अगर वे अपने प्रेमचंद को अलग कर बरतना चाहते हैं, तो यह हक उनको हासिल है। हक के इस बरताव से ही वे अंतत: अन्यता के भाव से मुक्त हो सकेंगे। लेकिन, ब्राह्मणवादियों के प्रेमचंद विरोध का मुकाबला पूरी वैचारिक आक्रमकता से करने की जरूरत है।

क्योंकि प्रेमचंद साहित्य उनके विरोध का साहित्य है। प्रेमचंद साहित्य का सार इस मुकाबले की इजाजत ही नहीं समझ और दायित्व भी देता है। कहना न होगा कि प्रेमचंद के विरोध का न तो कोई एक ही स्तर है न उस विरोध को समझने की, उसके कारणों को विवेचित करने का ही कोई बना-बनाया तरीका है। मतलब यह कि दलितों या दलितवादियों के प्रेमचंद विरोध और ब्राह्मणवादियों के प्रेमचंद विरोध को हमें अलग-अलग ढंग से न सिर्फ समझना ही होगा बल्कि उनके साथ अलग-अलग ढंग से बरताव भी करना होगा। यह ठीक है कि कृतियों के दहन जैसी कार्रवाई के रूप में सामने आये दलितवादियों के प्रेमचंद विरोध से हमें दुख होता है, लेकिन अपने दुख पर काबू पाना होगा। जिन समुदायों की बेहतरी प्रेमचंद के सपनों में शामिल रहा है उन समुदाय के लोगों के विरोध में और जिन समुदाय के लोगों के विरोध में प्रेमचंद का साहित्य रहा है, उनके विरोध में हमें अंतर करना ही होगा। यह अंतर नहीं कर पाने की स्थिति में, हम न तो प्रेमचंद के अभिप्राय के साथ न्याय कर पायेंगे ओर न ही उन समुदायों की मन:स्थिति को ही समझ पाएँगे। कहना न होगा कि जीवन में वस्तु-स्थिति का बड़ा महत्त्व है, तो मन:स्थिति का भी कम महत्त्व नहीं है। साहित्य तो अपने आप में वस्तु-स्थिति और मन:स्थिति की अंतरक्रीड़ा की अद्‌भुत मिसाल हुआ करता है। प्रसिद्ध लेखक डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन की दलित-विमर्श में सक्रिय भागीदारी रहती है। उनकी टिप्पणी 'प्रेमचंदवादियों के प्रति दलित असंतोष' गौर करने लायक है। इस टिप्पणी में उन्होंने लिखा है, "प्रश्न जाति सूचकों से इंकार का नहीं है, प्रश्न है जन्म के आधार पर किसी जाति को ऊँचा और किसी को नीचा समझने का। मसला पाठ्यक्रम से जुड़ा है। पता लगता है कि जाति सूचकों का सहारा लेकर सवर्ण शिक्षक दलित छात्रों की उपेक्षा करते हैं। पर इसमें प्रेमचंद का क्या दोष? वे तो जाति भेद कायम रखनेवालों के साथ नहीं थे। हाँ, पाठ्यक्रम लोकतांत्रिक विविधतापूर्ण बनेगा तो दलित रचनाकार स्वयं जाति सूचकों के साथ पढ़ाये जाने लगेंगे। तब यह विवाद समाप्त हो जायेगा। फिलवक्त तो पाठ्यक्रम से सांप्रदायिकता हटाए जाने के मद्देनजर पाठ्यक्रम निर्धारण समितियों में धार्मिक प्रतिनिधित्व के तौर पर मुस्लिम विद्वानों को शामिल किया जाना, मानव संसाधन मंत्री अर्जुन सिंह भी जरूरी समझ रहे हैं। यह अच्छी बात है, लेकिन शिक्षा और साहित्य में जाति भेद भी तो सांप्रदायिकता का एक रूप है। अत: इसे दूर करने का पाठ्यक्रम निर्धारण में दलित प्रतिनिधित्व देने की दृष्टि से विचार क्यों नहीं किया जा रहा? यही कारण है कि पाठ्यक्रम का असंतोष दूसरे रूपों में फूट रहा है। प्रेमचंद के बजाए असहमति उन प्रेमचंदवादियों से होनी चाहिए जो आंबेडकर की जगह गाँधी को दलितों का नेता और दलित साहित्यकार की जगह प्रेमचंद को दलितों का एक मात्र साहित्यकार मानकर दलित साहित्यकार का

तिरस्कार कर रहे हैं। यदि गाली देने के आशय से चमार-भंगी शब्द का प्रयोग हो तो वह गलत है। पर क्या प्रेमचंद का आशय दलित समाज को गाली देना था?.... हापुड़ के मुस्लिम शायर बूम ने (1942 में) 'चमारीनामा' लिखा था तब उसका मंशा अपमानित करने का था। जिसका जवाब, 'चमार हूँ मैं', लंबी कविता में लोक कवि बिहारीलाल हरित ने दिया था। पर ऐसा प्रेमचंद ने दलितों के साथ नहीं किया। उन्होंने गाँधीवादी शैली में पीड़ितों का पक्ष लिया। अत्यंत धैर्यपूर्वक प्रेमचंद व दलित रचनाकारों द्वारा रचित रचनाओं का दलित पाठ तैयार किया जाना जरूरी है।.... प्रेमचंद ने अपने समय में दलित लेखकों को अपने पत्र जागरण और पत्रिका हंस में कितना स्थान दिया था? या नहीं दिया था। बहस का मुद्दा यही है। कुछ दलितों द्वारा उनकी कृति दहन साहित्य शीर्ष पर चल रही अलोकतांत्रिक व्यवस्था की प्रतिक्रिया भी है। दोष पाठ्यक्रम निर्माताओं का है। इसमें प्रेमचंद नाहक बलि का बकरा बनाए जा रहे हैं। यह स्थिति चतुरी चमार के लेखक निराला जी की भी हो सकती है। पर वे सहानुभूति के आधार पर जितना भी लिख गये स्वागतेय है। हाँ, अब अनुभूति का साहित्य लिखने का दलितों को पूरा अधिकार है।''[17] इस अधिकार से कौन इनकार करता है, भाई। प्रेमचंद ने अपने समय में दलित लेखकों को अपने पत्र 'जागरण' और पत्रिका 'हंस' में कितना स्थान दिया था यह तो देखा जा सकता है, इसके साथ यह देखना भी क्या जरूरी नहीं होगा कि साहित्य में ही नहीं समाज में भी स्थान बनाने के लिए प्रेमचंद क्या कर रहे थे। 'जनचेतना का प्रगतिशील कथा-मासिक: हंस' के 'सत्ता-विमर्श और दलित, अगस्त 2004' का अतिथि संपादन डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन ने किया है। उन्होंने अपने संपादकीय में दर्ज किया है कि 'सन 1990 के बाद के 14 सालों के हंस की प्रतियाँ देखें तो दलितों की हिस्सेदारी का प्रतिशत पाँच से भी कम रहा है।'[18] जब तमाम सदाशयताओं के बाद भी राजेंद्र यादव जी के 'हंस' में दलित हिस्सेदारी का प्रतिशत पाँच से भी कम है, तब प्रेमचंद के 'हंस' में प्रतिशत का हिसाब लगाने से क्या सचमुच हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच पायेंगे? लेकिन क्या सचमुच विवाद का विषय यही है! क्या कुछ लोगों के मन में प्रेमचंद के प्रति इतना आग्रह है कि उन्हें प्रेमचंदवादी कहा जा सके! 'आंबेडकर की जगह गाँधी को दलितों का नेता' बनाना सचमुच ठीक नहीं है। गाँधी सिर्फ दलितों के नेता नहीं थे। सिर्फ दलितों के नेता तो अंबेडकर भी नहीं थे। ये दोनों ही आधुनिक भारत के निर्माण के नेता रहे हैं। बावजूद इसके अगर कोई समुदाय उन्हें अपने अधिक करीब पाता है तो इससे किसी को असुविधा भी क्यों होनी चाहिए? 'दलित साहित्यकार की जगह प्रेमचंद को दलितों का एक मात्र साहित्यकार' कौन मानता है, भाई! प्रेमचंद को जिस दलित साहित्यकार की जगह दलितों का साहित्यकार बताने की बात डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन करते हैं उस दलित साहित्यकार

का वे नाम नहीं लेते हैं; जबकि कि गाँधी के प्रसंग में डॉ. आंबेडकर का नाम लेते हैं! वे ठीक हते हैं कि 'दोष पाठ्यक्रम निर्माताओं का है। इसमें प्रेमचंद नाहक बलि का बकरा बनाए जा रहे हैं।'

इस पूरे प्रकरण को ध्यान से देखने पर सहज ही यह सवाल उठता है कि क्या सचमुच प्रेमचंद बलि का बकरा बन रहे हैं या बेहतर और वास्तविक रूप में भारत के पुनर्निर्माण के सपने को बलि का बकरा बनाया जा रहा है! पाठ्यक्रम का सावल महत्त्वपूर्ण है लेकिन क्या इस महत्त्वपूर्ण सवाल को इतने यांत्रिक ढंग हल किया जा सकता है। पाठ्यक्रम के साथ जीवन-क्रम को भी ध्यान में रखना होगा। 'असल समस्या तो आर्थिक है। यदि हम अपने हरिजन (उस समय दलित शब्द प्रचलन में नहीं था) भाइयों को उठाना चाहते हैं तो हमें साधन पैदा करने होंगे जो उन्हें उठने में मदद दें। विद्यालयों में उनके लिए वजीफे करने चाहिए, नौकरियाँ देने में उनके साथ थोड़ी-सी रियायत करनी चाहिए।'[19] ध्यान रहे प्रेमचंद रियायत की बात 1934 में कर रहे थे। असल में, प्रेमचंद साहित्य के सकारात्मक पाठ को हासिल किये जाने की जरूरत है। प्रेमचंद को पूजा भाव या घृणा की नहीं विचार की जरूरत है। क्या हिंदी समाज को प्रेमचंद को समझने की लियाकत हासिल करने में और वक्त की जरूरत है? शायद हाँ। प्रेमचंद को बार-बार समझने की जरूरत है। यह सच है कि साहित्य और जीवन में बहुत अंतर है। इस अंतर के बावजूद जीवन के माध्यम से साहित्य को और साहित्य के माध्यम से जीवन को समझने की भरपूर गुंजाइश भी रहती है। एक बेहतर समाज इस गुंजाइश को न सिर्फ बनाये रखता है बल्कि बढ़ाता भी रहता है। प्रेमचंद का सारा जीवन संघर्षों की तीव्र ज्वाला के बीच ही बीता है। मशाल जैसा प्रेमचंद का जीवन और साहित्य जल-जलकर रौशन करता रहा है, जिंदगी को, जहान को! ऐसा जीवन और ऐसा साहित्य कभी भी जलकर खाक नहीं होता है, बल्कि जिंदगी को और रौशन ही करता है! हर प्रकार के भेद-भाव और शोषण से मुक्त आधुनिक एवं नये भारतीय समाज और राष्ट्र के सपने को सच करने के लिए प्रेमचंद साहित्य के अंतर्पाठ को हासिल करना बहुत ही जरूरी है। यह सच है कि यह सपना सिर्फ प्रेमचंद साहित्य के अंतर्पाठ से ही सच नहीं होगा, लेकिन यह भी सच है कि इस मामले में प्रेमचंद के महत्त्व को नकारना या कमतर देखना भारी भूल होगी।

संदर्भः

[1]भीषम साहनीः मेरी कथा के निष्कर्षः दस पर्तिनिधि कहानियाँ सीरिजः किताब घर, 1994
[2] प्रेमचंदः विविध प्रसंग-2: राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता
[3] प्रेमचंदः विविध प्रसंग-2: पाकिस्तान की न उपज, 14 मई 1933
[4] प्रेमचंदः विविध प्रसंग-2: राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता

[5] अंधविश्वास धर्म का मुख्य तत्त्व हैः प्रो. तुलसी रामः रामाज्ञा राय शशधर से बातचीतः समयांतर, मार्च 2003
[6] शंभुनाथः हिंदी नवजागरण और संस्कृतिः प्रेमचंद, हिंदी समाज और दलित प्रश्न
[7] प्रेमचंदः विविध प्रसंग-2: आगरा जमींदार सम्मेलन, 12 फरवरी 1934
[8] प्रेमचंदः विविध प्रसंग-2: किसान सहायक एक्ट, 16 अप्रैल 1934
[9] प्रेमचंदः विविध प्रसंग-2: आगरा जमींदार सम्मेलन, 12 फरवरी 1934
[10] प्रेमचंद के उपन्यास गोदान के पात्र
[11] भीष्म साहनीः दो शब्दः मेरी प्रिय कहानियाँ: राजपाल एंड संज़, 1983
[12] शंभुनाथः हिंदी नवजागरण और संस्कृतिः प्रेमचंद, हिंदी समाज और दलित प्रश्न
[13] प्रेमचंदः विविध प्रसंग-2: आगरा जमींदार सम्मेलन, 12 फरवरी 1934
[14] भीष्म साहनीः दो शब्दः मेरी प्रिय कहानियाँ: राजपाल एंड संज़, 1983
[15]Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement in India: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage 2002)
[16] मुद्राराक्षसः असमयः सहारा समय, 8 अगस्त 2004
[17] डॉ. श्यौराज सिंह बेचैनः प्रेमचंदवादियों के प्रति दलित असंतोषः दैनिक हिन्दुस्तान, 25 अगस्त 2004
[18] डॉ. श्यौराज सिंह बेचैनः हंस, सत्ता विमर्श और दलित अंकः अगस्त 2004
[19] प्रेमचंदः विविध प्रसंगः मंदिर प्रवेश ही समस्या को हल करेगा, 26 दिसंबर 1934